दौर-ए-तरक्की में पत्थर भी महफूज़ नहीं

कुदरती तौर पर बनने और खत्म होने का सिलसिला तो हमेशा से चलता रहता है। हवा, पानी, गर्मी-सर्दी और विभिन्न रासायनिक क्रियाओं वगैरह के कारण कुदरत में घिसाई की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है जिससे लाखों करोड़ों सालों के अंतराल में तो विशालकाय पहाड़ भी बौने बन जाते हैं। लेकिन अक्सर इंसान की दखलंदाज़ी से ये प्रक्रियाएं और भी तेज़ हो जाती हैं। जैसा कि इन चित्रों में स्पष्ट दिखाई देता है।

यहां एक जर्मन मूर्ति के दो फोटो दिए गए हैं। पहला फोटो सन् 1908 में लिया गया था जिसमें सन् 1702 में बलुआ पत्थर से बनी एक जर्मन मूर्ति दिख रही है। इस मूर्ति ने उस समय तक अपना 206 सालों का सफर बिना किसी विशेष क्षति के पूरा कर लिया था।

दूसरा चित्र भी इसी कलाकृति का है, इसे सन् 1969 में लिया गया था। जिसमें मूर्ति के नाम पर एक बेढब-सा पत्थर ही बचा है।

सन् 1908 से 1969 के बीच इस कलाकृति ने कई तेज़ाबी बरसातों में खुद को गलाया, तो कभी प्रदूषित हवा की मार सही। तरह-तरह की रासायनिक क्रियाएं और उनके कारण विभिन्न किस्म के बदलाव तो प्रकृति में भी लगातार होते ही रहते हैं – खनिजों का स्वरूप बदलने से चट्टानें तक खत्म होती जाती हैं।

दरअसल 20 वीं सदी में तरक्की की दौड़ में मशगूल इंसान ने इस कुदरती कामकाज में जमकर दखलंदाज़ी शुरू कर दी। मसलन, कारखानों की चिमनियां रोज़ बड़ी तादात में कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड और पता नहीं किन-किन गैसों से वायुमंडल को पाट रही हैं। हवा में इनकी बढ़ी हुई मौजूदगी का असर तो इंसान पर पड़ता ही है। जहां कहीं इनकी मात्रा ज़्यादा ही हो जाए, वहां तो कार्बन डाइऑक्साइड और सल्फर डाईऑक्साइड जैसी गैसें बारिश के पानी में घुलकर हल्के तेज़ाब के रूप में तक बरसने लगती हैं। खतरनाक बनती जा रही इन गैसों के असर से इंसान-तो-इंसान, पत्थर भी महफूज़ नहीं है। चाहे यह जर्मन कलाकृति हो या हिंदुस्तान का ताजमहल।